सातवाँ अध्याय

दिल्ली सल्तनत–2

(लगभग 1200 ई. – 1400 ई.)

ख़लजी और तुग़लक

1286 ई. में बलबन की मृत्यु के बाद दिल्ली में कुछ समय के लिए फिर अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न हो गई। बलबन ने शहज़ादा महमूद को अपना उत्तराधिकारी चुना था, लेकिन वह मंगोलों के खिलाफ़ एक लड़ाई में मारा जा चुका था। उसके एक दूसरे बेटे बोगरा खाँ ने बंगाल और बिहार पर शासन करते रहना ज़्यादा पसंद किया, हालाँकि अमीरों ने उसे दिल्ली की गद्दी सँभालने के लिए निमंत्रित किया था। इस स्थिति में बलबन के एक पौत्र को गद्दी पर बैठाया गया। लेकिन वह कच्ची उम्र का और अनुभवहीन था, सो हालात को सँभालना उसके बूते की बात नहीं थी। तुर्क अमीरों द्वारा सभी उच्च पदों को हथिया लेने की कोशिश के खिलाफ़ काफी क्षोभ और विरोध था। ख़लजियों जैसे बहुत-से ग़ैर-तुर्क गौरी के आक्रमण के समय ही भारत आए थे। चूँकि उन्हें कभी भी दिल्ली में यथेष्ट सम्मान नहीं मिला था अतः अपनी तरक्की के लिए उन्हें बंगाल और बिहार में भाग्य आज़माना पड़ा था। उन्हें सिपाहियों के तौर पर भी नौकरियाँ मिली थीं और उनमें से बहुतों को मंगोलों का मुकाबला करने के लिए उत्तर-पश्चिम में तैनात किया गया था। कालांतर में बहुत से भारतीय मुसलमानों को भी अमीरों की श्रेणी में शामिल कर लिया गया था। ऊँचे पदों से वंचित रखे जाने से वे भी असंतुष्ट थे। बलबन के खिलाफ़ इमादुद्दीन का खड़ा किया जाना इसी असंतोष का प्रतीक था। खुद बलबन ने गद्दी पर नासिरुद्दीन महमूद के पुत्रों के दावों को खारिज करके जो उदाहरण पेश किया था उससे यह संदेश मिला कि कोई भी सेनानायक स्थापित राजवंश के शहज़ादों को दरकिनार करके खुद गद्दी पर काबिज़ हो सकता था बशर्ते उसे अमीरों और सेना का पर्याप्त समर्थन प्राप्त हो।

ख़लजी (1290 ई.–1320 ई.)

इन कारणों से ख़लजी अमीरों के एक गुट ने 1290 ई. में बलबन के अयोग्य उत्तराधिकारियों को पदच्युत करके अपने नेता जलालुद्दीन ख़लजी

को गद्दी पर बैठा दिया। जलालुद्दीन उत्तर-पश्चिम सीमाओं का प्रधान रक्षक था और उसने कई लड़ाइयों में मंगोलों के खिलाफ़ अपना जौहर दिखाया था। अमीरों के ग़ैर-तुर्क गुटों ने ख़िलजी-विद्रोह का स्वागत किया। ख़िलजी, जो मिश्रित रक्त के थे ने तुर्कों को ऊँचे पदों से वंचित कर दिया हो, ऐसी बात नहीं थी। लेकिन उनके उदय के साथ उच्च पदों पर तुर्कों का एकाधिकार समाप्त हो गया।

जलालुद्दीन ख़लजी ने सिर्फ़ छह साल राज किया। उसने बलबन के शासन के कुछ कठोर पहलुओं का मार्जन करने का प्रयत्न किया। वह दिल्ली सल्तनत का पहला शासक था जिसने स्पष्ट शब्दों में यह विचार सामने रखा कि राज्य को शासितों के स्वैच्छिक समर्थन पर आधारित होना चाहिए। और चूँकि भारत में बहुत बड़ा बहुमत हिंदुओं का है, इसलिए इस देश का राज्य सच्चे अर्थों में इस्लामी राज्य नहीं हो सकता। उसने सहिष्णुता का व्यवहार करने और कड़ी सज़ाओं का सहारा न लेने की नीति अपनाकर अमीरों की सद्भावना भी प्राप्त करने की कोशिश की। लेकिन उसके समर्थकों-सहित बहुत-से लोग इसे कमज़ोर नीति मानते थे जो इस वक्त के उपयुक्त नहीं थी। दिल्ली सल्तनत को अनेक बाहरी और भीतरी शत्रुओं का सामना करना पड़ रहा था और इसलिए लोगों में असुरक्षा की भावना व्याप्त थी। जलालुद्दीन की नीति को अलाउद्दीन ने उलट दिया, और जो भी उसका विरोध करने की हिमाकत करता उसे वह कड़ी-से-कड़ी सज़ा देता था।

अलाउद्दीन (1296 ई.–1316 ई.) ने अपने चाचा और श्वसुर जलालुद्दीन को धोखे से मार कर गद्दी हासिल की। अवध के सूबेदार के रूप में देवगिर पर हमला करके अलाउद्दीन ने अकूत संपत्ति प्राप्त कर ली थी। जलालुद्दीन इस संपत्ति को हासिल करने की आशा से अपने भतीजे से मिलने कोरा चला गया। उससे डरकर अलाउद्दीन कहीं भाग खड़ा न हो, इस विचार से उसने अपनी सेना को पीछे छोड़ मुट्ठी-भर समर्थकों के साथ गंगा पार की। अपने चाचा की हत्या करने के बाद अलाउद्दीन ने सोने की चमक से चकाचौंध करके अधिकांश अमीरों और सैनिकों का समर्थन प्राप्त कर लिया। लेकिन कुछ समय तक उसे एक के बाद एक कई विद्रोहों का सामना करना पड़ा। कुछ विद्रोह तो अमीरों ने किए और कुछ खुद उसके रिश्तेदारों ने। अपने विरोधियों को आतंकित करने के लिए अलाउद्दीन ने अधिक-से-अधिक कठोरता और निष्ठुरता बरतने का तरीका अपनाया। जो अमीर सोने के लोभ से उसके पक्ष में आ गए थे उनमें से अधिकांश को उसने या तो मार डाला या बर्खास्त करके उनकी संपत्ति ज़ब्त कर ली। अपने परिवार के विद्रोही सदस्यों को उसने कठोर दंड दिए। जलालुद्दीन के शासन-काल में इस्लाम कबूल करके हज़ार-दो हज़ार मंगोल दिल्ली के आसपास बस गए थे। अलाउद्दीन ने उन सबका सफ़ाया कर दिया। इन नए मुसलमानों ने गुजरात की लूट में अधिक बड़े हिस्से की माँग करते हुए विद्रोह कर दिया था। उसने उनके स्त्री-बच्चों को भी कड़ी सज़ाएँ दीं। बरनी बताता है कि यह रिवाज नया था जिसे आगे अलाउद्दीन के उत्तराधिकारियों ने भी जारी रखा। अलाउद्दीन ने अमीरों को अपने खिलाफ़ साजिश करने से रोकने के लिए कई नियम बनाए। भोजों और उत्सवों का आयोजन करना उनके लिए निषिद्ध कर दिया गया। वे

सुल्तान की अनुमति के बिना आपस में वैवाहिक संबंध भी नहीं जोड़ सकते थे। उत्सवों और भोजों का आयोजन न किया जाए, इस प्रयोजन से उसने शराब और नशीले पदार्थों के उपयोग पर रोक लगा दी। उसने एक गुप्तचर प्रणाली भी स्थापित की, जिसके सदस्य अमीरों की कही हर बात और उनके द्वारा की गई हर कार्रवाई से सुल्तान को अवगत कराते रहते थे।

इन कठोर तरीकों से अलाउद्दीन खलजी ने अमीरों को पर्याप्त आतंकित कर दिया और वे पूर्ण रूप से सुल्तान के अधीन हो गए। उसके जीवन-काल में फिर कभी कोई विद्रोह नहीं हुआ। लेकिन अंत में ये तरीके उसके राजवंश के लिए हानिप्रद साबित हुए। पुराने अमीरों को मिटा दिया गया और नए अमीरों को यह सिखाया गया कि जो भी दिल्ली की गद्दी पर बैठ जाए वे उसी के मुसाहिब बन जाएँ। 1316 ई. में अलाउद्दीन खलजी की मृत्यु के बाद यह बात साफ हो गई। अलाउद्दीन के कृपापात्र मलिक काफूर ने उसके एक नाबालिग बेटे को दिल्ली की गद्दी पर बैठा दिया और उसके दूसरे बेटों को या तो कैद कर लिया या अंधा बना दिया, लेकिन अमीरों की ओर से उसे किसी विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। इसके कुछ ही दिनों बाद काफूर राजमहल के रक्षकों द्वारा मार दिया गया और खुसरो नामक एक व्यक्ति, जो हिंदू से मुसलमान बना था, दिल्ली की गद्दी पर बैठा। यद्यपि समकालीन इतिहासकार खुसरो पर हर तरह के अपराध में गर्क रहने का आरोप लगाते हैं, तथापि वह अपने पूर्ववर्ती सुल्तानों से किसी भी तरह से बदतर नहीं था। उस पर इस्लाम के नियमों की उपेक्षा करने का आरोप लगाया जाता है यद्यपि उसके खिलाफ न तो मुसलमान अमीरों ने कोई आवाज़ उठाई न दिल्ली की रिआया ने। यहाँ तक कि दिल्ली के प्रसिद्ध सूफी संत निज़ामुद्दीन औलिया ने उससे भेंट स्वीकार करके उसे सम्मान दिया। इसका एक शुभ पक्ष भी था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि दिल्ली और आसपास के इलाकों के मुसलमानों पर अब नस्लवादी विचारों का असर नहीं होता था और किसी की नसली तथा पारिवारिक पृष्ठभूमि चाहे जो हो, यदि वह व्यक्ति के रूप में अच्छा होता था तो वे उसकी बात मानने को तैयार रहते थे। इससे अमीरों के वर्ग के सामाजिक आधार को और भी प्रशस्त होने में मदद मिली। लेकिन 1320 ई. में गियासुद्दीन तुगलक के नेतृत्व में अधिकारियों के एक गुट ने इस्लाम के नाम पर विद्रोह का झंडा उठाया। राजधानी के बाहर सुल्तान के समर्थकों और विद्रोहियों के बीच घमासान युद्ध हुआ। खुसरो की पराजय हुई और विद्रोहियों ने उसे मार डाला।

तुगलक (1320 ई.–1412 ई.)

गियासुद्दीन तुगलक ने एक नए राजवंश की स्थापना की जो 1412 ई. तक शासन करता रहा। तुगलक वंश ने दिल्ली सल्तनत को तीन सुयोग्य सुल्तान दिए – गियासुद्दीन, उसका बेटा मुहम्मद बिन तुगलक (1324 ई.–51 ई.) और भतीजा फिरोजशाह तुगलक (1351 ई.–88 ई.)। इनमें से प्रथम दो सुल्तानों ने ऐसे साम्राज्य पर शासन किया जिसमें लगभग पूरा देश शामिल था। फिरोजशाह का साम्राज्य कुछ छोटा अवश्य था, फिर भी उसका विस्तार अलाउद्दीन के साम्राज्य के बराबर था। फिरोज की मृत्यु के बाद दिल्ली सल्तनत बिखर गई और उत्तर भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँट

गया। यद्यपि तुगलक 1412 ई. तक शासन करते रहे, तथापि हम कह सकते हैं कि 1398 ई. में भारत पर तैमूर के आक्रमण के साथ तुगलक साम्राज्य का अंत हो गया।

अब हम सबसे पहले अलाउद्दीन खलजी के शासन-काल से दिल्ली सल्तनत के तीव्र प्रादेशिक विस्तार पर विचार करेंगे, फिर इस काल में सल्तनत में किए गए आंतरिक सुधारों और अंत में उसके बिखराव के कारणों की जाँच-पड़ताल करेंगे।

1 दिल्ली सल्तनत का प्रादेशिक विस्तार

ऊपर हम देख चुके हैं कि अजमेर और आसपास के कुछ प्रदेशों के साथ पूर्वी राजस्थान किस प्रकार दिल्ली सल्तनत के अधिकार में आ गया था, यद्यपि बलबन के समय से रणथंभौर, जो सबसे शक्तिशाली राजपूत राज्य था, सल्तनत के हाथ से निकल गया था। जलालुद्दीन ने रणथंभौर पर एक चढ़ाई अवश्य की, लेकिन उसे उस पर कब्ज़ा करना टेढ़ी खीर लगा। इस प्रकार दक्षिणी और पश्चिमी राजस्थान सल्तनत के नियंत्रण से बाहर रहा। अलाउद्दीन खलजी के सत्तासीन होने की एक नई परिस्थिति पैदा हो गई। मात्र 25 वर्षों के दौर में सल्तनत की सेना ने न केवल मालवा और गुजरात पर उसका अधिकार स्थापित कर दिया और राजस्थान के अधिकांश नृपतियों को उसके अधीन कर दिया, बल्कि दकन और दक्षिण भारत में मदुरै तक के प्रदेशों पर उसका अधिकार स्थापित कर दिया। कालांतर में इस विशाल क्षेत्र को दिल्ली के प्रत्यक्ष प्रशासनिक नियंत्रण में लाने की कोशिश की गई अलाउद्दीन खलजी ने प्रादेशिक विस्तार का जो नया दौर आरंभ किया उसे उसके उत्तराधिकारियों ने जारी रखा और उसकी चरम परिणति मुहम्मद-बिन-तुगलक के शासन-काल में हुई।

हम पहले ही देख चुके हैं कि किस तरह सल्तनत के प्रादेशिक विस्तार के इस नए दौर के लिए दिल्ली तैयार हो चुकी थी। इस समय मालवा, गुजरात और देवगीर पर राजपूत राजवंशों का शासन था। इनमें से अधिकांश की स्थापना बारहवीं सदी के अंत और तेरहवीं सदी के आरंभ में हुई थी। गंगा घाटी में तुर्क शासन की स्थापना के बावजूद ये राजवंश अपने तौर-तरीकों में कोई बदलाव नहीं कर पाए थे। इसके अलावा इनमें से प्रत्येक पूरे क्षेत्र पर अधिकार करने की महत्वाकांक्षा पाले हुए था। यहाँ तक कि जब इल्तुतमिश ने गुजरात पर हमला किया तो मालवा और देवगीर दोनों राज्यों के शासकों ने उस पर दक्षिण से आक्रमण कर दिया। मराठा क्षेत्र में देवगीर के शासक तेलंगाना प्रदेश के वारंगल राज्य से बराबर ज़ोर-अज़माई करते रहे। उधर कर्नाटक के होयसलों के खिलाफ़ भी वे संघर्षरत रहे। और होयसल अपने पड़ोसी मबार (तमिल क्षेत्र) के पांड्यों से लड़ते-भिड़ते रहे। इन प्रतिद्वंद्विताओं के चलते न केवल मालवा और गुजरात को जीतना आसान हो गया, बल्कि आक्रमणकारियों को दक्षिण की ओर अधिकाधिक आगे बढ़ते रहने का प्रोत्साहन मिलता रहा।

कई कारणों से तुर्क शासकों को मालवा और गुजरात पर अधिकार करना ज़रूरी लग रहा था। ये क्षेत्र उपजाऊ और जनबहुल तो थे ही, पश्चिम के समुद्री बंदरगाहों और गंगा घाटी से उन्हें जोड़नेवाले व्यापारिक मार्गों पर भी उनका नियंत्रण था। गुजरात के बंदरगाहों से होने वाले विदेश

व्यापार से बहुत-सा सोना-चाँदी वहां आता था, जिससे उस क्षेत्र के शासक अपना खजाना भर रहे थे। दिल्ली के सुल्तानों की गुजरात पर कब्ज़ा करने की इच्छा का एक और कारण यह भी था कि उससे उन्हें अपनी सेना के लिए बाहर से घोड़े मँगवाने में सहूलियत हो जाती थी। मध्य और पश्चिम एशिया में मंगोलों के उदय और दिल्ली के शासकों के साथ उनके संघर्ष के कारण दिल्ली को इन क्षेत्रों से अच्छी नस्ल के घोड़े प्राप्त करने में कठिनाई हो रही थी। समुद्री मार्ग से भारत में अरबी, इराकी और तुर्की घोड़ों का आयात आठवीं सदी से ही व्यापार की एक महत्वपूर्ण मद रहा था।

1299 ई. में अलाउद्दीन ख़लजी के दो प्रमुख सेनानायकों के नेतृत्व में एक सेना ने राजस्थान के रास्ते गुजरात के लिए कूच कर दिया। रास्ते में उसने जैसलमेर पर हमला करके उस पर कब्ज़ा कर लिया। सल्तनत की सेना के अचानक चढ़ आने पर गुजरात का राजा रायकरण हक्का-बक्का रह गया। उसने कोई प्रतिरोध नहीं किया और भाग खड़ा हुआ। राज्य के प्रमुख नगरों में खूब लूट-खसोट मचाई गई। इनमें अनहिलवाड़ भी शामिल था, यहाँ पीढ़ी-दर पीढ़ी अनेक सुन्दर इमारतें और मंदिर बनवाए गए थे। प्रसिद्ध सोमनाथ मंदिर को भी, जिसे बारहवीं सदी में नए सिरे से बनवाया गया था, लूटा गया। सल्तनत की सेना ने लूट का भरपूर माल इकट्ठा कर लिया। यहाँ तक कि खम्बात के धनाढ्य मुसलमान व्यापारियों के साथ भी लिहाज़ नहीं किया गया। यहीं पर मलिक काफूर को बंदी बनाया गया था। इसे अलाउद्दीन को सौंप दिया गया और शीघ्र ही सुल्तान की निगाह में उसने बहुत ऊँचा स्थान बना लिया। बाद में इसी मलिक काफूर ने सुल्तान के दक्षिणी सैनिक अभियानों का नेतृत्व किया।

इस प्रकार अब गुजरात दिल्ली सल्तनत के नियंत्रण में था। जिस तेज़ी और आसानी से गुजरात को फतह कर लिया गया उससे प्रकट होता है कि वहाँ का राजा अपनी प्रजा में लोकप्रिय नहीं था। मालूम होता है, उससे नाराज़ उसके एक मंत्री ने अलाउद्दीन से संपर्क करके उससे गुजरात पर हमला करने को कहा था और हमले में उसकी मदद भी की थी। संभव है, गुजरात की सेना भी सुप्रशिक्षित न रही हो और वहाँ का प्रशासन ढीला रहा हो। देवगीर के राजा रामचंद्र की मदद से रायकरण ने किसी तरह दक्षिण गुजरात के एक हिस्से पर अपना कब्ज़ा कायम रखा। जैसा कि हम देखेंगे, रायकरण को देवगीर के यादव राजा का मदद देना यादवों के राज्य पर दिल्ली सल्तनत के आक्रमण का एक अतिरिक्त कारण था।

राजस्थान

गुजरात-विजय के बाद अलाउद्दीन ने राजस्थान में अपने शासन को सुदृढ़ बनाने की ओर ध्यान दिया। उसका पहला लक्ष्य रणथंभौर था जहाँ पृथ्वीराज चौहान के उत्तराधिकारी शासन कर रहे थे। वहाँ के राजा हमीरदेव ने अपने पड़ोसी राज्यों पर एक के बाद एक कई आक्रमण किए थे। उसे धार के राजा भोज और मेवाड़ के राणा को परास्त करने का श्रेय दिया जाता है। लेकिन यही जीतें उसके लिए अभिशाप बन गईं। गुजरात विजय के बाद जब सुल्तान की सेना लौट रही थी तो लूट के माल में हिस्सेदारी के सवाल को लेकर मंगोल सैनिकों ने बगावत कर दी। बगावत को दबा दिया

गया और फिर मंगोलों का कत्लेआम किया गया। दो मंगोल अमीर अपने कुछ अनुगामियों के साथ भागकर शरण लेने के लिए रणथंभौर पहुंचे। अलाउद्दीन ने हमीरदेव को संदेश भेजा कि वह या तो उन्हें मार दे या अपने राज्य से निकाल दे। लेकिन अपनी शरणागत-वत्सलता और अपनी सेना तथा दुर्ग की दुर्जेयता में अपने विश्वास के कारण हमीरदेव ने सुल्तान को तीखा जवाब भेजा। अपनी शक्ति के बारे में उसका अंदाज़ा बहुत गलत नहीं था, क्योंकि रणथंभौर की ख्याति राजस्थान के सबसे मज़बूत किले के रूप में थी और अभी कुछ ही समय पहले उसने जलालुद्दीन ख़लजी को मुँह की खिलाई थी। अलाउद्दीन ने अपने एक विख्यात सेनापति के नेतृत्व में सेना भेजी, लेकिन हमीरदेव ने उसे पराजित कर दिया और सुल्तान की सेना को भारी क्षति उठाकर वापस लौटना पड़ा। अंत में अलाउद्दीन ने एक विशाल सेना लेकर खुद रणथंभौर के खिलाफ़ कूच किया। इस अभियान में प्रसिद्ध शायर अमीर खुसरो भी अलाउद्दीन के साथ था। उसने रणथंभौर के किले और उसकी रक्षा-व्यवस्था का बहुत सजीव वर्णन किया है। सुल्तान ने तीन महीने तक किले पर घेरा डाले रखा। आखिर राजपूतों ने जौहरव्रत का निश्चय किया। स्त्रियाँ चिताओं पर चढ़ गईं और पुरुष लड़ते हुए शहीद होने को किले से बाहर आ गए। फारसी में जौहर का यह पहला वर्णन है जो हमें उपलब्ध है। राजपूतों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर लड़ते हुए सभी मंगोलों ने भी मृत्यु का वरण किया। यह घटना सन् 1301 ई. की है।

अब अलाउद्दीन ने चित्तौड़ की ओर ध्यान दिया। रणथंभौर के बाद यह राजस्थान का सबसे शक्तिशाली राज्य था। इसके अलावा सुल्तान के आक्रमण का एक और भी कारण था कि जब दिल्ली की सेना गुजरात पर आक्रमण करने के लिए कूच कर रही थी तब चित्तौड़ के राजा रतन सिंह ने उसे अपने राज्य से गुज़रने की अनुमति देने से इनकार कर दिया था। फिर अजमेर से मालवा जाने के रास्ते पर चित्तौड़ का नियंत्रण था जो अलाउद्दीन की भावी विजययोजना में बाधक हो सकता था। एक लोक कथा प्रचलित है कि अलाउद्दीन की निगाह रतन सिंह की रूपवती रानी पद्मिनी पर लगी हुई थी। लेकिन बहुत-से आधुनिक इतिहासकार इस कथा को सच नहीं मानते, क्योंकि इसका प्रथम उल्लेख अलाउद्दीन की चित्तौड़-विजय के सौ साल बाद हुआ है। इसकी रचना हिन्दू कवि मलिक मोहम्मद जायसी द्वारा की गई। इस कथा में पद्मिनी सिंघलद्वीप की रानी है और रतन सिंह कई अविश्वसनीय दुस्साहसिक कार्य और पराक्रम करते हुए सात समुद्र पार करके रानी को चित्तौड़ लाता है। पद्मिनी की कथा इस लंबे वृतांत का एक हिस्सा है।

अलाउद्दीन ने काफी निकट से चित्तौड़ पर घेरा डाला। घिरे हुए राजपूतों ने कई महीनों तक सुल्तान का प्रबल प्रतिरोध किया लेकिन अंत में उसने किले पर कब्ज़ा कर ही लिया (1303 ई.)। राजपूतों ने जौहर किया और अधिकांश योद्धा लड़ाई में खेत रहे। लेकिन मालूम होता है, रतन सिंह को ज़िंदा ही पकड़ लिया गया और कुछ समय तक बंदी बना कर रखा गया। चित्तौड़ अलाउद्दीन के नाबालिक बेटे खिज्र खाँ के हवाले कर दिया गया और किले में एक मुस्लिम रक्षक-दल तैनात कर दिया गया। कुछ समय बाद किले की ज़िम्मेदारी रतन सिंह के एक परिजन को सौंप दी गई।

अलाउद्दीन ने गुजरात के मार्ग पर पड़ने वाले जालौर को भी जीत लिया। राजस्थान के लगभग अन्य सभी बड़े राज्यों को अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया गया। लेकिन मालूम होता है, अलाउद्दीन ने राजपूत राज्यों में अपना प्रत्यक्ष प्रशासन स्थापित करने का प्रयास नहीं किया। राजपूत, राजाओं को अपने-अपने राज्यों में शासन करने दिया गया, लेकिन उन्हें सुल्तान को नियमित कर-नज़राने देने पड़ते थे और उसके आदेशों का पालन करना पड़ता था। अजमेर, नागौर आदि कुछ महत्वपूर्ण शहरों में मुस्लिम रक्षक सेनाएँ तैनात की गईं। इस प्रकार राजस्थान को पूरे तौर पर सर कर लिया गया।

दकन और दक्षिण भारत

राजस्थान जीतने का सिलसिला पूरा करने से पहले ही अलाउद्दीन ने मालवा को फ़तह कर लिया था। अमीर ख़ुसरो बताता है कि यह राज्य इतना विस्तृत था कि भूगोलशास्त्री भी इसकी सीमाओं का अंकन करने में असमर्थ थे। मालवा पर सल्तनत का प्रत्यक्ष शासन स्थापित किया गया और उसकी देख-रेख के लिए एक सूबेदार नियुक्त कर दिया गया।

1306 ई.-7 ई. में अलाउद्दीन ने दो सैनिक आक्रमणों की योजना बनाई। पहला आक्रमण रायकरण के ख़िलाफ़ था जो गुजरात से निष्कासित कर दिए जाने के बाद मालवा की सीमा पर बगलाना पर अधिकार जमाए बैठा था। रायकरण बहादुरी से लड़ा लेकिन प्रतिरोध ज़्यादा दिनों तक जारी नहीं रख सका। दूसरे, आक्रमण का लक्ष्य देवगीर का राय रामचंद्र था जिसका रायकरण से संधि-संबंध था। पहले की एक लड़ाई में राय रामचंद्र दिल्ली को वार्षिक कर देने पर राज़ी हो गया था। कर की अदायगी वह नहीं कर पाया था, सो उस पर चढ़ाई करने का निश्चय किया गया। दूसरे आक्रमण की कमान अलाउद्दीन ने अपने ग़ुलाम मलिक काफ़ूर को सौंपी। राय ने आत्मसमर्पण किया तो उसके साथ सम्मानजनक व्यवहार किया गया। उसे दिल्ली ले जाया गया जहाँ उसका राज्य वापस कर दिया गया और उसे राय रायन के ख़िताब के साथ फिर से अपने पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया। उसे एक लाख टके की भेंट दी गई और राजत्व के प्रतीकस्वरूप सुनहले रंग का छत्र प्रदान किया गया। उसे गुजरात का एक ज़िला भी दिया गया। उसकी एक बेटी का विवाह अलाउद्दीन से कर दिया गया। राय रामचंद्र के साथ यह संधि अलाउद्दीन को आगे की दकन-विजय में उसके लिए बहुत सहायक सिद्ध होने वाली थी।

1309 ई. और 1311 ई. के बीच मलिक काफ़ूर ने दक्षिण भारत पर दो आक्रमण किए। पहला आक्रमण तेलंगाना क्षेत्र में वारंगल पर किया गया था और दूसरे के लक्ष्य द्वार समुद्र (आधुनिक कर्नाटक), मबार तथा मदुरै (तमिलनाडु) थे। इन आक्रमणों के संबंध में काफ़ी-कुछ लिखा गया है। जिसका कारण अंशतः यह है कि इन आक्रमणों ने समकालीन प्रेक्षकों की कल्पना-शक्ति को बहुत प्रभावित किया। अलाउद्दीन के दरबार के कवि अमीर ख़ुसरो ने इन पर पूरी एक पुस्तक की रचना कर दी। इन आक्रमणों से दिल्ली शासकों के शौर्य, आत्म-विश्वास और दुस्साहसिक कार्य करने की प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। यह पहला अवसर था जब मुसलमानों की सेना दक्षिण में

मदुरै तक पहुँच गई और साथ में अकूत संपत्ति लेकर लौटी। इन आक्रमणों से दक्षिण भारत की परिस्थितियों के बारे में प्रत्यक्ष जानकारी मिलती है हालाँकि कोई नया भौगोलिक ज्ञान प्राप्त नहीं होता। दक्षिण भारत को जानेवाले व्यापारिक मार्ग सुविदित थे और जब काफ़ूर की सेना मबार में बीर धोल नामक स्थान पर पहुँची तो वहाँ मुसलमान व्यापारियों की एक बस्ती बसी हुई पाई गई। न केवल इतना बल्कि वहाँ के शासक की सेना में मुस्लिम सैनिकों की एक टुकड़ी भी थी। इन अभियानों के कारण लोगों की निगाह में काफ़ूर की इज़्ज़त बहुत बढ़ गई और सुल्तान ने उसे अपने साम्राज्य का मलिक नायब नियुक्त कर दिया। लेकिन राजनीतिक दृष्टि से इन अभियानों के प्रभाव सीमित ही थे। काफ़ूर ने वारंगल और द्वार समुद्र के शासकों को शांति की याचना करने पर विवश कर दिया। उन्हें अपना सारा कोष और हाथी उसके हवाले करने पड़े और सालाना कर देने का वचन देना पड़ा। लेकिन सबको मालूम था कि अगर ये कर वसूल करने हैं तो उसके लिए हर साल एक सैनिक कार्रवाई करनी पड़ेगी। मबार के मामले में ऐसी औपचारिक सहमति भी प्राप्त नहीं हो रही थी। वहाँ के शासक जमकर लोहा लेने से बचते रहे थे। काफ़ूर जितना लूट सकता था उतना उसने लूटा। लूटे गए स्थानों में मंदिर भी शामिल थे। (आधुनिक मद्रास) के निकट चिंदाबरम मंदिर इनमें से एक था। लेकिन उसे तमिल सेनाओं को पराजित किए बिना ही दिल्ली लौटना पड़ा।

अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद जो गड़बड़ी फैली उसके बावजूद उसकी मृत्यु के बाद के डेढ़ दशकों के अंदर उपर्युक्त सभी दक्षिणी राज्यों का अस्तित्व मिटा दिया गया और उनके प्रदेश दिल्ली के प्रत्यक्ष प्रशासन के अधीन आ गए। ख़ुद अलाउद्दीन दक्षिणी राज्यों को प्रत्यक्ष प्रशासन में लाने के पक्ष में नहीं था। लेकिन उसके जीवनकाल में ही इस नीति में परिवर्तन आरंभ हो चुका था। 1315 ई. में राय रामचंद्र, जो हमेशा दिल्ली का वफ़ादार बना रहा था, चल बसा और उसके बेटों ने दिल्ली की अधीनता का जुआ अपने कंधे से उतार फेंका। मलिक काफ़ूर ने तुरंत मौके पर पहुँच कर विद्रोह को शांत कर दिया और इस क्षेत्र को सीधे अपने प्रशासन के अधीन कर लिया। लेकिन बहुत-से सीमावर्ती इलाकों ने स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर दिया, जबकि उनमें से कुछ राय के वंशजों के नियंत्रण में रहे।

गद्दीनशीन होने पर मुबारक शाह ने देवगीर को फिर से जीत कर वहाँ एक मुसलमान सूबेदार नियुक्त किया। उसने वारंगल पर भी आक्रमण किया। वहाँ के शासक को एक ज़िला सल्तनत के हवाले करने एवं सोने की चालीस ईंटों का वार्षिक कर देने के लिए सहमत होना पड़ा। सुल्तान के ख़ुसरो ख़ाँ नामक एक ग़ुलाम ने लूट-पाट के इरादे से मबार पर हमला किया और पाटन के समृद्ध नगर को तबाह कर दिया। इस क्षेत्र में कोई देश-विजय नहीं की गई।

1320 ई. में ग़ियासुद्दीन के गद्दीनशीन होने के बाद एक अविश्रांत और प्रबल आक्रामक नीति आरंभ की गई। इस उद्देश्य से सुल्तान के बेटे मुहम्मद-बिन-तुग़लक को देवगीर में तैनात कर दिया गया। वारंगल के राजा द्वारा निर्धारित कर अदा करने में फिर चूक होने का बहाना बनाकर मुहम्मद-बिन-तुग़लक ने वारंगल पर

आक्रमण कर दिया। आरंभ में उसे हार खानी पड़ी। अफ़वाह फैल गई कि दिल्ली में सुल्तान की मृत्यु हो गई है। इस अफ़वाह के कारण मुहम्मद की सेना में अव्यवस्था फैल गई और मौका देखकर वारंगल की सेना उस पर टूट पड़ी और उसे भारी क्षति पहुंचाई। मुहम्मद-बिन-तुग़लक को विफल होकर देवगीर लौटना पड़ा। अपनी सेना को पुनर्गठित करके उसने वारंगल पर फिर आक्रमण किया और इस बार राय के साथ कोई मुरव्वत नहीं बरती गई। इस विजय के बाद मबार पर हमला करके उसे भी जीत कर सल्तनत का हिस्सा बना लिया गया। तत्पश्चात् मुहम्मद-बिन-तुग़लक ने उड़ीसा पर आक्रमण किया जहाँ से लूट का भारी माल लेकर वह दिल्ली लौट आया। अगले ही साल उसने बंगाल को भी जीत लिया जो बलबन की मृत्यु के बाद से स्वतंत्र चला आ रहा था।

इस प्रकार 1324 ई. तक दिल्ली सल्तनत मदुरै तक फैल गई। इस क्षेत्र में बचा हुआ आखिरी हिंदू राज्य काम्पिली (दक्षिण कर्नाटक) भी 1328 ई. में सल्तनत में मिला लिया गया। मुहम्मद-बिन-तुग़लक के एक विद्रोही रिश्तेदार को वहाँ शरण दी गई थी जिससे उसे उस पर आक्रमण करने का एक सुविधाजनक बहाना मिल गया था।

दूर दक्षिण और उड़ीसा सहित पूर्वी क्षेत्र में दिल्ली सल्तनत के द्रुत विस्तार से मुहम्मद-बिन-तुग़लक के लिए ज़बरदस्त प्रशासनिक तथा वित्तीय समस्याएँ खड़ी हो गईं। अब हम इस पर विचार करेंगे कि उसने कैसे इन समस्याओं का समाधान करने की कोशिश की और उसकी कोशिशों का सल्तनत पर क्या प्रभाव पड़ा।

2 आंतरिक सुधार और प्रयोग

अलाउद्दीन ख़लजी के गद्दीनशीन होते-होते दिल्ली सल्तनत की स्थिति साम्राज्य के मध्यवर्ती भाग, अर्थात् उपरी गंगा घाटी और पूर्वी राजस्थान में काफी सुदृढ़ हो चुकी थी। इससे दिल्ली के सुल्तानों में आंतरिक सुधारों और प्रयोगों का एक सिलसिला आरंभ करने का साहस जगा। इन सुधारों और प्रयोगों का उद्देश्य प्रशासन को चुस्ती देना, सेना को मज़बूत बनाना, भूराजस्व की व्यवस्था का एक तंत्र स्थापित करना एवं कृषि के विस्तार और प्रगति के लिए तेज़ी से फैलते शहरों के नागरिकों के कल्याण के निमित्त ज़रूरी उपाय करना था। सभी कदम सफल नहीं हुए, लेकिन वे लीक से हटकर नई राह पर चलने की कोशिश के द्योतक अवश्य हैं। कुछ प्रयोग अनुभव के अभाव में विफल रहे, कुछ को इसलिए कामयाबी नहीं मिली कि उनकी अवधारणा सही ढंग से नहीं की गई थी, या इसलिए कि बद्धमूल हितों की ओर से उनका विरोध किया गया। परंतु उनसे यह प्रकट होता है कि तुर्कों द्वारा स्थापित इस राज्य ने अब काफी-कुछ स्थिरता प्राप्त कर ली थी और अब उसे लड़ाइयों और शांति-सुव्यवस्था की फ़िक्र ही नहीं करनी पड़ती थी।

अलाउद्दीन की बाज़ार नियंत्रण तथा कृषि-संबंधी नीति

अलाउद्दीन ने बाज़ार पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए जो कदम उठाए वे उसके समकालीनों के लिए दुनिया के महान आश्चर्यों में से थे। चित्तौड़ की लड़ाई से लौटने के बाद एक-के-बाद-एक जारी किए गए कई आदेशों के ज़रिए अलाउद्दीन

ने खाद्यानों, शक्कर और रसोई तेल से लेकर सुई तक तथा आयात किए कीमती वस्त्रों से लेकर घोड़े, मवेशी और गुलाम लड़के-लड़की तक की कीमतें तय कर दी। इस प्रयोजन से उसने दिल्ली में तीन बाज़ार स्थापित किए - एक खाद्यानों के लिए, दूसरा कीमती वस्त्रों के लिए और तीसरा घोड़ों, गुलामों और मवेशी के लिए। प्रत्येक बाज़ार एक उच्च अधिकारी के नियंत्रण में होता था जिसे शाहना कहा जाता था। वह व्यापारियों की एक पंजिका रखता था और दुकानदारों तथा कीमतों पर कड़ी निगाह रखता था। कीमतों के, खास तौर से खाद्यानों की कीमतों के नियमन की चिंता मध्यकालीन शासकों को हमेशा रहती थी क्योंकि नगरवासियों को सस्ते अनाज मुहैया किए बिना वे उनके और नगरों में तैनात सेना के समर्थन की आशा नहीं रख सकते थे। लेकिन अलाउद्दीन के सामने बाज़ार को नियंत्रित करने के कुछ अतिरिक्त कारण थे। दिल्ली पर मंगोलों के हमलों से स्पष्ट हो गया था कि उन्हें रोकने के लिए एक बड़ी सेना रखना ज़रूरी है। लेकिन अगर वह कीमतों को नीचे नहीं लाता और सैनिकों के वेतन को कम नहीं करता तो इतनी बड़ी सेना जल्दी ही उसका खज़ाना खाली कर देती। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अलाउद्दीन ने अपने स्वभाव के अनुसार अपनी योजना को सम्यक् रीति से कार्यान्वित करना शुरू किया। खाद्यानों की नियमित और सस्ती आपूर्ति सुनिश्चित करने के लिए उसने घोषणा की कि दोआब क्षेत्र, अर्थात् यमुना के निकट-मेरठ से लेकर इलाहाबाद के निकट कड़ा की सीमा तक के प्रदेश में भूराजस्व की अदायगी सीधे राज्य को की जाएगी। इसका मतलब यह था कि इन प्रदेशों का कोई भी गाँव किसी को इक्ता में नहीं दिया जा सकता था। इसके अलावा, भूराजस्व बढ़ाकर उपज के आधे हिस्से पर तय कर दिया गया। यह बहुत बड़ा दायित्व था और जैसा कि हम आगे देखेंगे, इस परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए अलाउद्दीन ने कई कदम उठाए। चूंकि सुल्तान ने भूराजस्व बहुत बढ़ा दिया था और उसकी अदायगी नकद करने को कहा था, इसलिए किसानों को अपनी उपज बंजारों के हाथों सस्ती बेचनी पड़ रही थी। उधर बंजारे लोग इस रास्ते अनाज आदि को शहरों में पहुँचा देते थे जहाँ दुकानदारों को उन्हें निश्चित कीमतों पर बेचना पड़ता था। जमाखोरी को रोकने के लिए सभी बंजारों के नाम पंजिका में दर्ज किए गए और उनके एजेंटों तथा परिजनों को नियमों के उल्लंघन के लिए सामूहिक रूप से ज़िम्मेदार बनाया गया। इससे भी आगे बढ़कर राज्य ने अपने भंडार स्थापित किए जिन्हें अनाजों से भरा रखा जाता था। आपूर्ति में कमी आने पर, इन भंडारों से अनाज जारी कर दिए जाते थे। अलाउद्दीन अपने को हमेशा हर बात से वाकिफ रखता था, और यदि कोई दुकानदार ज़्यादा कीमत लेता या माप-तौल के गलत पैमानों का इस्तेमाल करता था तो उसे कड़ी सज़ा दी जाती थी। बरनी बताता है कि अकाल के समय भी कीमतों में एक (बहुत कम मूल्य का सिक्का) दाम या पाई की भी बढ़ोतरी नहीं होने दी जाती थी। गेहूं साढ़े-सात जीतल[1] प्रतिमन, जौ 4 जीतल प्रति मन और

1. 48 जीतल का एक टंका होता था। अलाउद्दीन के समय का मन आज के लगभग 15 किलो के बराबर था। इस प्रकार दिल्ली का नागरिक एक टंके (लगभग चांदी के एक रुपए के बराबर) से 96 किलोग्राम गेहूँ, 144 किलो ग्राम चावल और 180 किलोग्राम जौ खरीद सकता था।

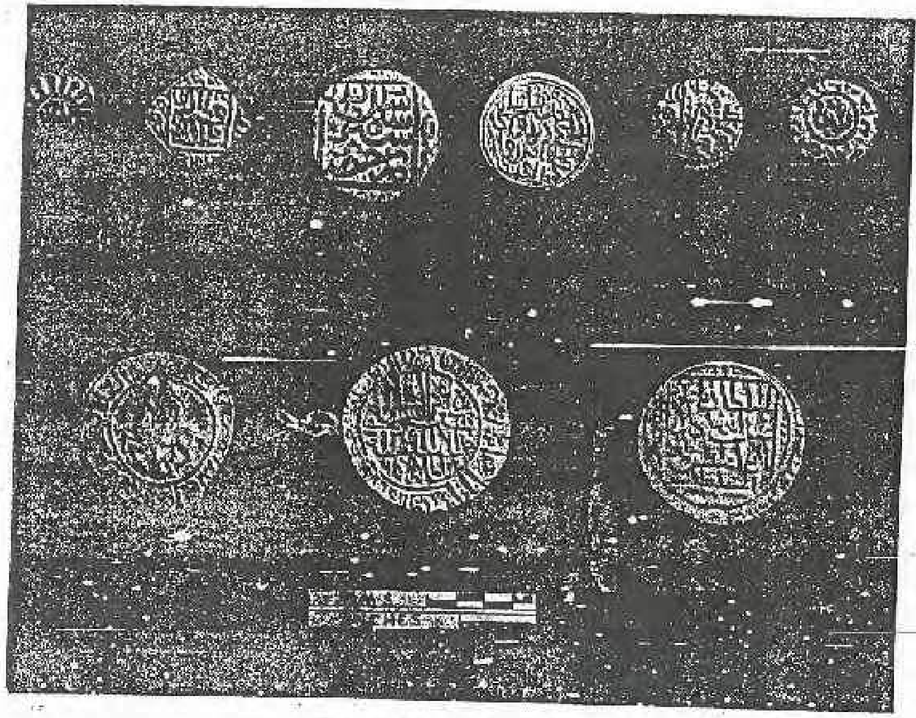

चित्र 7.1 दिल्ली सल्तनत के सिक्के

अच्छी किस्म का चावल 5 जीतल प्रति मन बिकता था। बरनी ने लिखा है कि 'अनाज मंडी में कीमतों का स्थायित्व इस युग का एक आश्चर्य था'।

घोड़ों की कीमतों का नियंत्रण सुल्तान के लिए खास महत्व रखता था क्योंकि सेना के लिए उचित कीमतों पर अच्छी नस्ल के घोड़ों की आपूर्ति के बिना सेना की कुशलता कायम नहीं रखी जा सकती थी। गुजरात विजय के कारण अच्छी नसल के घोड़ों की आपूर्ति में सुधार हुआ था। अच्छी नस्ल के घोड़े केवल राज्य को ही बेचे जा सकते थे। अलाउद्दीन ने अव्वल दर्जे के घोड़े की कीमत 100 से 120 टंका तय की जबकि सेना के काम न आने वाले टट्टू की कीमत 22 से 25 टंका रखी गई थी। मवेशी और गुलामों की कीमतों का नियमन कड़ाई से किया जाता था। बरनी ने उनकी कीमतें तफसील से बताई हैं। उसने मवेशी और गुलामों की कीमतें साथ-साथ दी हैं। इससे मालूम होता है कि मध्यकालीन भारत में गुलामों की एक आम प्रथा के तौर पर स्वीकार किया जाता था। दूसरी वस्तुओं, खास कर बेश कीमती कपड़े,

सुगंधियों आदि की कीमतें सुल्तान के लिए महत्वपूर्ण नहीं थी। लेकिन उनकी कीमतें भी निर्धारित की गईं, जिसका कारण शायद यह था कि इन चीजों की ऊँची कीमतों का प्रभाव दूसरी चीजों की कीमतों पर पड़ता, या हो सकता है, यह काम अमीरों को खुश करने के लिए किया गया हो। हमें ऐसी जानकारी मिलती है कि देश के विभिन्न भागों से नफीस किस्म के कपड़े दिल्ली लाने के लिए मुल्तानी व्यापारियों को भारी रकम में पेशगी दी जाती थी। फलत: दिल्ली उत्तम कोटि के कपड़ों का सबसे बड़ा बाज़ार बन गया। इन कपड़ों की कीमतें निश्चित रहती थीं और सभी स्थानों के व्यापारी इनकी खरीद-बिक्री के लिए दिल्ली पहुँचते थे। यहाँ सस्ते दामों में खरीदे इन उत्तम कोटि के कपड़ों को वे अन्यत्र भारी दामों पर बेचते थे।

भूराजस्व नकद वसूल किए जाने से अलाउद्दीन को अपने सिपाहियों को नकद वेतन देने में सुविधा हुई। नकद वेतन देनेवाला वह इस सल्तनत का पहला सुल्तान था। उसके समय में सवार (घुड़सवार सैनिक) को प्रतिवर्ष 238 टंके। या माहवारी लगभग 20 टंके दिए जाते थे। मालूम होता है कि एक सैनिक से इस रकम से अपना गुजारा करने के साथ ही अपने घोड़े की देखरेख करने और साज-सामान को भी दुरुस्त रखने की आशा की जाती थी। तब भी यह वेतन कुछ कम नहीं था क्योंकि अकबर के काल में कीमतें इससे बहुत ज्यादा थीं तब भी मुगल सवार को लगभग 20 रुपए का ही मासिक वेतन मिलता था। वस्तुत: तेरहवीं और चौदहवीं सदियों में तुर्क घुड़सवार भद्रजन की कोटि में आता था और इतने वेतन की अपेक्षा रखता था जितने में वह भद्रजन की तरह रह सकता था। इस बात को ध्यान में रखें तो अलाउद्दीन द्वारा तय किया गया वेतन कम ही था और इसलिए बाज़ार का नियंत्रण आवश्यक था।

इतिहासकार बरनी का ख्याल था कि अलाउद्दीन के बाज़ार नियंत्रण का एक बड़ा उद्देश्य हिंदुओं को सज़ा देना था क्योंकि ज़्यादातर व्यापारी हिंदू थे और मुनाफाखोरी से वे ही अपनी थैलियाँ भरते थे। लेकिन थलमार्ग से पश्चिम और मध्य एशिया के साथ चलने वाला व्यापार मुख्य रूप से खुरासानियों के हाथों में था जो मुसलमान थे। इस व्यापार में मुल्तानी लोग भी शरीक थे, लेकिन उनमें से भी बहुत-से लोग मुसलमान थे। इसलिए अलाउद्दीन द्वारा उठाए गए कदमों का असर इन लोगों पर भी हुआ, लेकिन बरनी इस बात का कोई उल्लेख नहीं करता।

यह स्पष्ट नहीं है कि अलाउद्दीन का बाज़ार-नियंत्रण केवल दिल्ली पर ही लागू था या साम्राज्य के अन्य नगरों पर भी। बरनी बताता है कि दिल्ली से संबंधित नियमों का हमेशा दूसरे शहरों में भी पालन करने की प्रवृत्ति होती थी। बहरहाल सेना तो सिर्फ दिल्ली में ही नहीं बल्कि अन्य शहरों में भी तैनात रहती थी। लेकिन हमें इतनी जानकारी उपलब्ध नहीं है कि हम इस संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकें। स्पष्ट है कि व्यापारियों को, चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान, मूल्य-नियंत्रण से भले ही शिकायत रही हो, परंतु सेना ही नहीं, बल्कि आम नागरिक भी - और हिंदू तथा मुसलमान दोनों - खाद्यानों और दूसरी चीज़ों के सस्तेपन से लाभान्वित हुए।

बाज़ार नियंत्रण के अलावा अलाउद्दीन ने

भूराजस्व की व्यवस्था के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण कदम उठाए। वह दिल्ली सल्तनत का पहला शासक था जिसने इस बात पर आग्रह रखा कि दोआब से भूराजस्व का निर्धारण खेती के लिए इस्तेमाल की जा रही ज़मीन की पैमाइश के आधार पर किया जाए। इसका मतलब यह था कि गाँव के शक्तिशाली और धनाढ्य लोग अपने सिर के राजस्व का बोझ दूसरों के सिर नहीं डाल सकते थे। अलाउद्दीन चाहता था कि खूत और मुकद्दम के जाने वाले उस क्षेत्र के ज़मींदार उसी तरह कर दें जिस तरह दूसरे लोग देते हैं। इस प्रकार उन्हें दूसरों की तरह दुधारू गाय-भैंसों और घरों पर कर देना था और वे जो तरह-तरह के गैर-कानूनी महसूल वसूल करते थे उन्हें छोड़ना होता था। बरनी की लाक्षणिक भाषा में कहें तो "खूत और मुकद्दम जीन-जरपोश से सजे घोड़ों पर अब वे नहीं चढ़ सकते थे और न पान की गिलौरियाँ चबा सकते थे। वे इतने गरीब हो गए कि उनकी पत्नियों को मुसलमानों के घर जाकर काम करना पड़ता था।"

ज़मीन की पैमाइश पर आधारित भूराजस्व की सीधी वसूली तभी कामयाब हो सकती थी अगर आमिल और स्थानीय कर्मचारी ईमानदार होते। यद्यपि अलाउद्दीन इन लोगों को इतना वेतन देता था कि वे आराम से ज़िंदगी बसर कर सकते थे, लेकिन उसका आग्रह था कि उनके हिसाब-किताब की जाँच-पड़ताल कड़ाई से की जाए। हमें जानकारी मिलती है कि छोटी-छोटी चूकों के लिए उन्हें पीटा जाता था और जेलों में बंद कर दिया जाता था। बरनी बताता है कि उनका जीवन उनके लिए इतना असुरक्षित हो गया था कि कोई उन्हें अपनी बेटी ब्याहने को तैयार नहीं होता था। इसमें संदेह नहीं कि बरनी के इस कथन में अतिशयोक्ति है। आज की तरह इन दिनों भी सरकारी नौकरी को प्रतिष्ठाजनक माना जाता था और जो लोग, चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान, सरकारी ओहदों पर काम कर रहे थे उन्हें वैवाहिक संबंधों के लिए सिर-आँखों पर लिया जाता था।

बरनी कुछ इस ढंग से लिखता है मानो उपर्युक्त सारे कदम सिर्फ़ हिंदुओं को लक्ष्य बनाकर उठाए गए थे, तथापि यह स्पष्ट है कि ये कदम मुख्य रूप से गाँवों के सुविधाप्राप्त वर्गों के खिलाफ़ उठाए गए थे। अलाउद्दीन की भूमि-संबंधी नीति निश्चय ही कठोर थी और उसका असर किसानों पर भी पड़ा होगा। लेकिन वह इतनी कठोर भी नहीं थी कि वे उससे नाराज़ होकर विद्रोह कर देते या भाग खड़े होते।

अलाउद्दीन की बाज़ार-नियमन की नीति उसकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गई। लेकिन उसको इस नीति से कई लाभ भी हुए। बरनी बताता है कि इन नियमों के फलस्वरूप अलाउद्दीन एक विशाल और कुशल घुड़सवार खड़ी करने में कामयाब हुआ, जिसकी बदौलत वह आगे होनेवाले मंगोल हमलों को भारी क्षति पहुँचाकर नाकाम कर सका और उन्हें सिंधु नदी के पार खदेड़ दिया। अलाउद्दीन द्वारा किए गए भूराजस्व संबंधी सुधारों से ग्रामीण क्षेत्रों के साथ शासन के निकटतर संबंधों की शुरुआत हुई। उसकी कुछ युक्तियों को उसके उत्तराधिकारियों ने जारी रखा और बाद में ये शेरशाह और अकबर के भूमि-सुधारों का आधार बनीं।

मुहम्मद-बिन-तुगलक के प्रयोग

अलाउद्दीन के बाद मुहम्मद-बिन-तुगलक

(1324-51 ई.) को एक ऐसे शासक के रूप में सबसे अधिक याद किया जाता है जिसने कई साहसपूर्ण प्रयोग किये और कृषि में गहरी रुचि का परिचय दिया।

कुछ मायनों में मुहम्मद-बिन-तुगलक अपने युग का सबसे उल्लेखनीय शासक था। उसने धर्म और दर्शन का गहरा अध्ययन किया था और वह बहुत ही विवेचनात्मक बुद्धि और खुले दिमाग वाला व्यक्ति था। उसका संलाप न केवल मुसलमान रहस्यवादियों से चलता था, बल्कि हिंदू योगियों तथा जिन पर जिनाप्रभा सूरी जैसे जैन मुनियों से भी चलता था। यह बात बहुत से रूढ़िवादी उलमा पसंद नहीं करते थे और उसे "बुद्धिवादी" अर्थात् ऐसा व्यक्ति कहते थे जो धार्मिक विचारों को श्रद्धाभाव से स्वीकार नहीं करता था। वह योग्यता के आधार पर किसी को भी ऊँचे पद देने को तैयार रहता था, चाहे वह अमीर घराने का हो या अदना परिवार का। दुर्भाग्य यह था कि उसमें जल्दबाजी और अधीरता की प्रवृत्ति कुछ ज्यादा थी। इसीलिए उसके कई प्रयोग विफल रहे, और उसे "अभागा आदर्शवादी" कहा गया है।

मुहम्मद-बिन-तुगलक का शासन बहुत अशुभ संयोगों में आरंभ हुआ था। सुल्तान गियासुद्दीन तुगलक बंगाल के खिलाफ़ सफल सैनिक कार्रवाई करके लौट रहा था। सुल्तान की गरिमा के अनुरूप उसका स्वागत करने के लिए मुहम्मद के आदेश पर जल्दबाजी में लकड़ी का एक मंडप बनवाया गया। जब युद्ध में छीने गए हाथियों का प्रदर्शन किया जा रहा था, तभी जल्दबाजी में खड़ा किया गया वह मंडप गिर गया और सुल्तान मारा गया। इससे तरह-तरह की अफ़वाहें उठीं–यह कि मुहम्मद तुगलक ने अपने पिता की हत्या की योजना बनाई थी, यह कि यह अल्ला का कहर था और यह कि सुल्तान को दिल्ली के संत निज़ामुद्दीन औलिया का अपमान करने का फल मिला है।

अपनी गद्दीनशीनी के शीघ्र बाद मुहम्मद-बिन-तुगलक ने जो सबसे विवादास्पद कदम उठाया वह था राजधानी का दिल्ली से देवगीर को तथाकथित स्थानांतरण। जैसा कि हम देख चुके हैं, देवगीर दक्षिण भारत में तुर्क शासन के प्रादेशिक विस्तार का एक आधार बन गया था। खुद मुहम्मद तुगलक ने शाहज़ादे के तौर पर वहाँ अपने जीवन के कई वर्ष बिताए थे। पूरे दक्षिण भारत को दिल्ली के प्रत्यक्ष नियंत्रण में लाने के प्रयत्नों के फलस्वरूप गंभीर राजनीतिक कठिनाइयाँ खड़ी हो गई थीं। इन प्रदेशों के लोग सल्तनत के शासन को गैर मानते थे और इसलिए उसके अधीन उनमें अशांति फैली हुई थी। कई मुसलमान अमीरों ने इस परिस्थिति से लाभ उठाकर अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी। सबसे गंभीर विद्रोह मुहम्मद तुगलक के ही रिश्ते के एक भाई गुरशस्प का विद्रोह था जिसे दबाने का काम सुल्तान को खुद करना पड़ा। मालूम होता है कि सुल्तान देवगीर को दूसरी राजधानी बनाना चाहता था ताकि वह दक्षिण भारत पर बेहतर नियंत्रण स्थापित कर सके। इस प्रयोजन से उसने बहुत-से अधिकारियों और कुछ प्रमुख व्यक्तियों को, जिनमें सूफ़ी संत भी शामिल थे, देवगीर में जा बसने का आदेश दिया। देवगीर का नया नाम उसने दौलताबाद रखा। बाकी की आबादी को दिल्ली से दौलताबाद ले जाने की कोई कोशिश नहीं की गई। सुल्तान की गैर-हाज़िरी में भी दिल्ली एक विशाल और घना आबाद नगर बनी रही। जब सुल्तान देवगीर में था तब भी

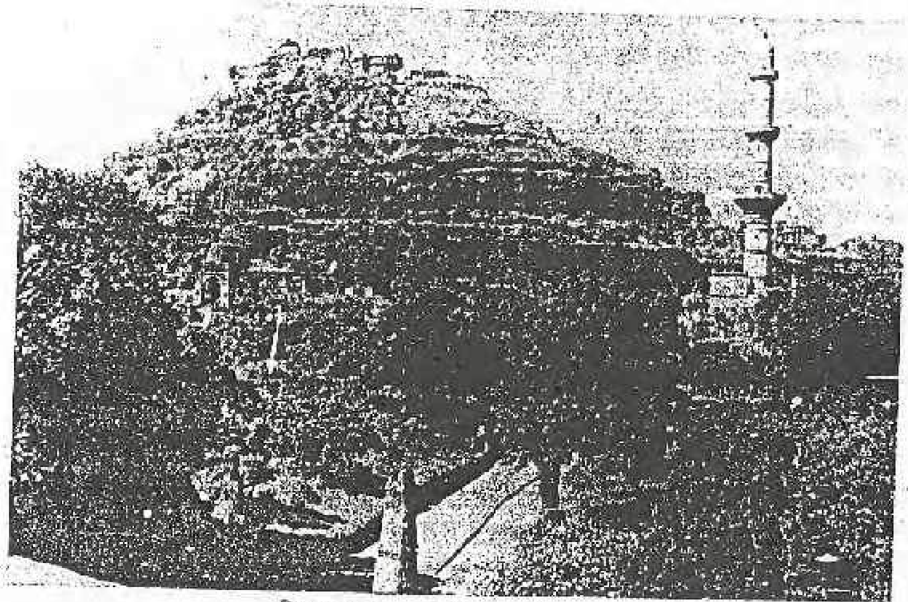

चित्र 7.2 दौलताबाद किले का एक दृश्य

सिक्के दिल्ली में ही ढाले जाते थे। यह दिल्ली के महत्व के जारी रहने का प्रमाण है। वैसे तो सुल्तान ने दिल्ली से दौलताबाद तक एक सड़क भी बनवा दी थी, जिस पर यात्रियों की सहूलियत के लिए जगह-जगह सरायें बनवा दी गई थीं, लेकिन दिल्ली से दौलताबाद की दूरी 1500 किलोमीटर से भी अधिक थी। यात्रा की कठिनाई और गर्मी से बहुत से लोगों की मृत्यु हो गई क्योंकि यह कूच ग्रीष्म में आरंभ किया गया था। जो लोग दौलताबाद पहुँचे उनमें से भी अधिकांश घर की याद से परेशान थे, क्योंकि उनमें से कुछ लोग पीढ़ियों से दिल्ली में निवास कर रहे थे और उसे ही वे अपना घर मानते थे। इसलिए लोगों में काफी असंतोष था। दो-एक साल के बाद ही मुहम्मद तुगलक ने दौलताबाद छोड़ने का फैसला कर लिया जिसका मुख्य कारण यह था कि उसे शीघ्र ही पता चल गया कि जिस प्रकार वह दिल्ली से दक्षिण भारत पर नियंत्रण नहीं रख सकता था उसी प्रकार दौलताबाद से उत्तर भारत को काबू में नहीं रख सकता था।

यद्यपि देवगीर को दूसरी राजधानी बनाने का प्रयत्न विफल हो गया तथापि आगे चलकर लोगों का यह देशांतरण कई तरह से लाभदायक सिद्ध हुआ। संचार में सुधार होने से उत्तर और दक्षिण भारत एक-दूसरे के निकट आए। दौलताबाद जाने वाले बहुत-से लोग, जिनमें धर्म-कर्म में लीन पीर-औलिए भी शामिल होते थे, वहीं बस गए। ये

लोग दकन में उन धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विचारों के प्रचार में सहायक सिद्ध हुए जिन्हें तुर्क अपने साथ उत्तर भारत लाए थे। इससे उत्तर और दक्षिण भारत के बीच तथा खुद दक्षिण भारत के अंदर भी सांस्कृतिक आदान-प्रदान की प्रभावशाली प्रक्रिया आरंभ हुई।

इसी समय मुहम्मद-बिन-तुगलक ने एक और भी कदम उठाया। यह था "प्रतीक मुद्रा" का चलन आरंभ करना। चूँकि मुद्रा विनिमय का एक साधन-मात्र है, इसलिए आज सभी देशों में प्रतीक मुद्रा - आमतौर पर कागज़ी मुद्रा ही प्रचलित है। इससे उन्हें सोने-चाँदी की उपलब्धता पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। चौदहवीं सदी में दुनिया में चाँदी की कमी हो गई थी। इसके अलावा, चीन का कुबलई खाँ पहले ही प्रतीक-मुद्रा का प्रयोग सफलतापूर्वक कर चुका था। ईरान के गज़न खाँ नामक एक मंगोल शासक ने भी यह प्रयोग किया था। मुहम्मद तुगलक ने काँसे का सिक्का चलाने का फैसला किया, जिसका मूल्य चाँदी के टंके के बराबर ही होता। इस मुद्रा के नमूने भारत के विभिन्न भागों में प्राप्त हुए हैं और उन्हें संग्रहालयों में देखा जा सकता है। प्रतीक-मुद्रा की कल्पना भारत में नई थी और व्यापारियों तथा आम लोगों को भी उसे स्वीकार करने को राजी करना कठिन था। फिर भी मुहम्मद तुगलक शायद सफल हो जाता, बशर्ते कि सरकार लोगों को जाली मुद्रा ढालने से रोक पाती। मगर सरकार वैसा कर नहीं पाई और शीघ्र ही नए सिक्कों का मूल्य बाज़ार में तेज़ी से गिरने लगा। अंत में मुहम्मद ने प्रतीक-मुद्रा वापस ले लेने का फैसला किया। उसने काँसे के सिक्कों के बदले चाँदी के सिक्के देने का वादा किया। इस तरह बहुत-से लोगों ने अपने काँसे के सिक्के देकर चाँदी के सिक्के हासिल किए। लेकिन जाली सिक्कों की एवज में, जिनकी पहचान वज़न से की जा सकती थी, चाँदी के सिक्के नहीं दिए गए। किले के बाहर इन सिक्कों के ढेर लगा दिए गए और बरनी बताता है कि कई साल वे इसी तरह पड़े रहे। तथापि, संसारव्यापी चाँदी की कमी के कारण मुगलों के आने तक मुद्रा में धीरे-धीरे चाँदी की मात्रा में कमी होती गयी।

इन दो प्रयोगों की विफलता से सुल्तान की प्रतिष्ठा को आँच आई और साथ ही धन की बर्बादी हुई। लेकिन सरकार इस झटके से जल्दी ही सँभल गई। मोरक्को के यात्री इब्नबतूता को, जो 1333 ई. में दिल्ली आया था, इन दोनों प्रयोगों का कोई हानिकारक प्रभाव देखने को नहीं मिला। इन सबसे बहुत अधिक गंभीर समस्या सीमाओं की सुरक्षा की थी। इसके अलावा प्रशासन, खास तौर से राजस्व प्रशासन और अमीरों से अपने संबंधों को लेकर भी सुल्तान को कुछ बड़ी समस्याओं का सामना करना पड़ा।

पीछे के एक विभाग में हम पंजाब में मंगोल सत्ता के क्रमिक प्रसार से दिल्ली सल्तनत के लिए उत्पन्न गंभीर खतरों और दिल्ली पर मंगोलों के हमलों की चर्चा कर चुके हैं। यद्यपि आंतरिक कलह के कारण अब मंगोल कमजोर पड़ चुके थे तथापि वे अब भी इतने शक्तिशाली थे कि पंजाब और दिल्ली के आसपास के क्षेत्रों को संकट में डाल सकते थे। मुहम्मद-बिन-तुगलक के शासन के प्रारंभिक वर्षों के दौरान तर्मशरिन के नेतृत्व में मंगोल सहसा सिंध पर उमड़ आए और उनका एक दल दिल्ली से 65 किलोमीटर दूर मेरठ तक पहुँच गया। झेलम के निकट एक लड़ाई में मुहम्मद तुगलक ने न केवल मंगोलों को परास्त कर दिया

बल्कि कलानौर पर भी कब्ज़ा कर लिया और कुछ समय तक उसका वर्चस्व सिंध के पार पेशावर तक कायम रहा। इससे ज़ाहिर हो गया कि अब दिल्ली का सुल्तान मुगलों के ख़िलाफ़ आक्रामक रुख अपना सकता था। देवगीर से लौटकर सुल्तान ने गज़नी और अफ़गानिस्तान पर कब्ज़ा करने के लिए एक विशाल सेना तैयार कर ली। बरनी का कहना है कि उसका उद्देश्य गज़नी और ईराक पर अधिकार करना था मुहम्मद तुगलक का असली मकसद क्या था, यह जानने का हमारे पास कोई स्रोत नहीं है। हो सकता है, उसका उद्देश्य ऐसी सीमा कायम करने का रहा हो जिसे "प्राकृतिक या वैज्ञानिक सीमा" कहा जाता है अर्थात् वह हिंदूकुश और कंदहार तक के प्रदेशों को सल्तनत का हिस्सा बनाना चाहता रहा हो। यह भी हो सकता है कि मध्य एशिया से भाग कर मुहम्मद-बिन-तुगलक के दरबार में शरण लेनेवाले शासकों और दूसरे लोगों में से बहुतों का मंसूबा यह रहा हो कि मंगोलों को उस क्षेत्र से निकाल बाहर करने का यह अच्छा मौका है। लेकिन साल-भर बाद और प्रतीक-मुद्रा का चलन आरंभ करने के प्रयत्न की विफलता के उपरांत नए तौर पर खड़ी की गई सेना की छुट्टी कर दी गई। इस बीच मध्य एशिया में परिस्थिति तेज़ी से बदल चली थी। कालांतर से तैमूर ने अपनी देखरेख में पूरे क्षेत्र को फिर एक सूत्र में बाँध दिया था और भारत के लिए एक नया खतरा उपस्थित कर दिया था।

खुरासान योजना के प्रभावों को अतिरंजित करना या कदाचित अभियान के साथ उसका घालमेल करना मुनासिब नहीं है। यह अभियान हिमालयी क्षेत्र में कुमाऊं के पहाड़ी प्रदेशों में आरंभ किया गया था यद्यपि, कुछ लोग जिनको भूगोल का कोई भी ज्ञान नहीं है, आरोप लगाते हैं कि यह चीनियों की बढ़त को रोकने की आशंका से किया गया था। सफलता प्राप्त करने के बाद दिल्ली की सेना कठिनाई भरे प्रदेशों में बहुत दूर तक आगे बढ़ गई और वहाँ भारी विपत्ति में फँस गई। कहा जाता है कि 10,000 की सेना में केवल 10 लोग वापस लौटे। लेकिन मालूम होता है, पहाड़ी प्रदेशों के राजाओं ने दिल्ली का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था। बाद में मुहम्मद तुगलक ने काँगड़ा पहाड़ियों पर भी आक्रमण किया। इस प्रकार पहाड़ी क्षेत्रों को पूरे तौर पर काबू में कर लिया गया।

मुहम्मद तुगलक ने कृषि में सुधार लाने के लिए कई कदम उठाए। उनमें से ज़्यादा दोआब के क्षेत्र में आज़माए गए। मुहम्मद तुगलक अलाउद्दीन की सूतों और मुकद्दमों को किसानों की अवस्था में पहुँचा देने की नीति को ठीक नहीं मानता था। लेकिन राजस्व में वह राज्य के लिए पर्याप्त हिस्सा अवश्य चाहता था। लेकिन इसके लिए जिन कदमों की हिमायत की वे भविष्य में बहुत काम के साबित हुए, लेकिन खुद उसके शासनकाल में बुरी तरह नाकामयाब रहे। कहना कठिन है कि इन कदमों के विफल होने का कारण गलत योजना थी या अनुभवहीन हमलों का अंजाम देने का गलत तरीका।

मुहम्मद तुगलक के शासनकाल में बिल्कुल आरंभ में ही गंगा के दोआब में किसानों का एक गंभीर विद्रोह हुआ। किसान गाँव छोड़कर भाग गए और मुहम्मद तुगलक ने उन्हें पकड़ने और सज़ा देने के लिए कड़ी कार्रवाइयाँ कीं। यद्यपि अलाउद्दीन के शासनकाल की तरह उपज में राज्य का हिस्सा आधा ही रहा, तथापि इस हिस्से का परिमाण वास्तविक उपज के आधार पर नहीं,

बल्कि मनमाने तौर पर निर्धारित किया जाने लगा। उपज का अंदाज़ा पैसे में लगाने के लिए कीमतें भी अवास्तविक रूप से निर्धारित की गईं। इसी दौरान अकाल का छह साल का एक लंबा दौर चला, जिसने प्रदेश को तबाह कर दिया। पशुओं और बीजों के लिए तथा कुएँ खोदने के लिए ऋण सुलभ कराकर राहत देने की कोशिश की गई, लेकिन काफी देर से दिल्ली में इतने लोगों की मौत हुई कि वातावरण दूषित हो गया। सुल्तान दिल्ली छोड़ कर 100 मील दूर गंगा के किनारे स्वर्गद्वारी नामक एक शिविर में चला गया और ढाई वर्षों तक वहीं बैठा रहा। वहाँ से लौटने के बाद उसने दोआब में कृषि के विस्तार और सुधार के लिए एक योजना आरंभ की। उसने दीवान-ए-अमीर-ए-कोही नाम से एक अलग विभाग की स्थापना की। इलाके को विकास प्रखंडों में विभाजित कर दिया गया। प्रत्येक प्रखंड एक अधिकारी के अधीन रखा गया जिसका काम किसानों को कर्ज़ देकर कृषि का विस्तार करना और उन्हें बेहतर फसलें उगाने के लिए प्रेरित करना था – जैसे जौ के स्थान पर गेहूँ, गेहूँ के बदले गन्ना और गन्ने की जगह अंगूर और खजूर। यह योजना विफल हो गई जिसका कारण इसे कार्यान्वित करने के लिए नियुक्त किए गए लोगों की अनुभवहीनता और बेईमानी थी। उन्होंने अपने निजी इस्तेमाल के लिए उस पैसे का दुरुपयोग किया। परियोजना के लिए ऋणों के तौर पर दी गई भारी रकमों की वसूली नहीं हो पाई। सबके सौभाग्य से इसी बीच मुहम्मद तुगलक की मृत्यु हो गई और फिरोज़ ने सभी कर्ज़ माफ कर दिए। लेकिन मुहम्मद तुगलक द्वारा कृषि के विस्तार और सुधार के लिए प्रवर्तित नीति समाप्त नहीं हो गई। उसे फिरोज़ ने अपनाया और आगे चलकर अकबर ने तो और भी ज़ोरदार ढंग से उसकी नीति का अनुसरण किया।

मुहम्मद तुगलक को एक और भी समस्या का सामना करना पड़ा। यह थी अमीरों की समस्या। चहलगानी तुर्कों के पतन और ख़लजियों के उत्थान के साथ ऐसी स्थिति आ गई जब अमीरों के वर्ग में अलग-अलग नस्लों के मुसलमान शामिल होने लगे जिनमें भारत के नव-धर्मांतरित मुसलमान भी थे। मुहम्मद-बिन-तुगलक न केवल गैर-अमीर वर्ग के परिवारों के लोगों से संपर्क रखता था बल्कि उनमें से सुयोग्य व्यक्तियों को ऊँचे पद भी देता था। इनमें से ज़्यादातर लोग हिंदू से मुसलमान बने लोगों के वंशज थे, हालाँकि इनमें कुछ हिंदू भी शामिल थे। ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है कि ये लोग शिक्षित थे या अपने काम में कुछ कम कुशल। लेकिन जो लोग पहले से पदासीन थे, वे चूँकि पुराने अमीर परिवारों के थे, इसलिए यह बात उन्हें सख्त नागवार गुज़रती थी। मुहम्मद तुगलक की निंदा करने में इतिहासकार बरनी ने भी इसी बात को मुख्य मुद्दा बनाया है। सच तो यह है कि मुहम्मद तुगलक विदेशियों को भी, जो उसके दरबार में बड़ी तादाद में पहुँचते थे, अमीरों के वर्ग में स्थान देता था।

इस तरह मुहम्मद तुगलक के समय के अमीर वर्ग में विविध वर्गों के लोग शामिल थे। उनमें आपसी एकजुटता की कोई भावना विकसित नहीं हो पाई और न सुल्तान के प्रति निष्ठा की प्रवृत्ति। उल्टे साम्राज्य के विस्तृत फैलाव ने विद्रोह-बगावतों के लिए और सत्ता के स्वतंत्र क्षेत्र कायम करने का प्रयत्न करने के लिए अनुकूल अवसर प्रदान किए। मुहम्मद-बिन-तुगलक के क्रोधी और अधीर स्वभाव तथा जिन लोगों पर विरोध या गैर वफ़ादारी का

संदेह होता उन्हें कड़ी-से-कड़ी सज़ा देने की प्रवृत्ति से विद्रोह का रुझान और भी प्रबल हुआ।

इस प्रकार जहाँ मुहम्मद तुगलक का शासनकाल दिल्ली सल्तनत के चरमोत्कर्ष का काल था, वहीं वह उसके विघटन की प्रक्रिया के आरंभ का दौर भी साबित हुआ।

3 दिल्ली सल्तनत का पतन और विघटन
फ़िरोज़ और उसके उत्तराधिकारी

मुहम्मद-बिन-तुगलक के शासन के उत्तरार्ध में साम्राज्य के विभिन्न भागों में बार-बार विद्रोह हुए। महत्वाकांक्षी अमीरों का विद्रोह करना और खासकर सीमावर्ती क्षेत्रों में उनका यह रवैया–कोई नई बात नहीं थी। अधिकांश प्रसंगों पर विभिन्न सुल्तानों ने केंद्रीय सेना और वफ़ादार अमीरों के बल पर उन विद्रोहों को शांत करने में कामयाबी हासिल की थी। लेकिन मुहम्मद तुगलक की कठिनाइयाँ अनेक थीं। साम्राज्य के विभिन्न भागों में – बंगाल में, मबार (तमिलनाडु) में, वारंगल में, कांपिली (कर्नाटक) में, पश्चिम बंगाल में, अवध में, गुजरात में और सिंध में एक-के-बाद-एक विद्रोह का सिलसिला जारी रहा। मुहम्मद तुगलक किसी पर विश्वास नहीं करता था, कम-से-कम सौ फीसदी विश्वास तो नहीं ही करता था। सो वह बगावतों को दबाने के लिए साम्राज्य के एक हलके से दूसरे हलके को भागता रहता था। इस भाग-दौड़ में वह अपनी सेना को भी थका देता था। दक्षिण भारत के विद्रोह सबसे गंभीर थे। आरंभ में इन क्षेत्रों के विद्रोहों का संगठन स्थानीय सूबेदारों ने किया। सुल्तान शीघ्रता से दक्षिण भारत पहुँचा। कुछ समय बाद सेना में प्लेग फैल गया। बताया गया है कि इस प्लेग में दो-तिहाई सेना मर-खप गई। यह ऐसा आघात था जिसके प्रभाव से मुहम्मद तुगलक कभी उबर नहीं पाया। सुल्तान के दक्षिण भारत से लौटते ही वहाँ फिर हरिहर और बुक्का नामक दो भाइयों के नेतृत्व में विद्रोह फूट पड़ा। उन्होंने एक छोटा-सा राज्य स्थापित कर लिया जो धीरे-धीरे फैलता गया। यह था विजयनगर साम्राज्य, जिसके दायरे में शीघ्र ही पूरा दक्षिण देश आ गया। विजयनगर से उत्तर के क्षेत्र दकन में कुछ विदेशी अमीरों ने दौलताबाद के निकट एक छोटा-सा राज्य कायम कर लिया जिसने फैलकर बहमनी साम्राज्य का रूप ले लिया। आगे के एक अध्याय में हम इन दो उल्लेखनीय साम्राज्यों की उपलब्धियों का लेखाजोखा प्रस्तुत करेंगे। बंगाल भी स्वतंत्र हो गया। काफी कोशिशों के बाद मुहम्मद तुगलक ने अवध, गुजरात और सिंध के विद्रोहों को दबाने में कामयाबी हासिल की। सिंध में ही मुहम्मद तुगलक की मृत्यु हो गई और उसका चचेरा भाई फिरोज तुगलक दिल्ली की गद्दी पर बैठा।

मुहम्मद तुगलक की नीतियों से अमीरों में और साथ ही सेना में भी गहरा असंतोष फैल गया था। उसका उलमाओं और सूफी संतों से भी टकराव हो गया था जबकि ये लोग काफी प्रभावशाली थे। लेकिन मुहम्मद तुगलक की अलोकप्रियता को बढ़ा-चढ़ा कर नहीं देखना चाहिए। जब वह काफी लंबे अर्से तक राजधानी से दूर बैठा था तब भी दिल्ली, पंजाब और उत्तर भारत में तथा साम्राज्य के दूसरे हिस्सों में प्रशासन सामान्य रीति से काम करता रहा।

गद्दी पर बैठने के बाद फिरोज तुगलक की समस्या यह थी कि दिल्ली सल्तनत के आसन्न

विघटन को कैसे रोका जाए। इसके लिए उसने अमीरों, सेना और उलमाओं के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनाई और उसने तय किया कि वह अपनी सत्ता उन्हीं प्रदेशों पर कायम रखने की कोशिश करेगा जिनकी व्यवस्था केंद्र से आसानी से की जा सकती है। इसलिए उसने दक्षिण भारत और दकन पर फिर से अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न नहीं किया। बंगाल पर उसने दो बार आक्रमण किए लेकिन दोनों बार विफल रहा। इस प्रकार बंगाल सल्तनत के हाथ से निकल गया। तब भी सल्तनत इतनी बड़ी थी जितनी कि वह अलाउद्दीन खलजी के शासनकाल के आरंभिक वर्षों में थी। फिरोज़ ने जाजनगर के शासक पर भी चढ़ाई की। वहाँ उसने मंदिरों को नष्ट-भ्रष्ट किया और काफी धन लूटा, लेकिन उड़ीसा को सल्तनत में मिलाने की कोई कोशिश नहीं की। उसने पंजाब की पहाड़ियों में कांगड़ा (आधुनिक हिमाचल प्रदेश में) पर भी हमला किया। परंतु उसने सबसे लंबे संघर्ष गुजरात और थट्टा के विद्रोहों को दबाने के लिए किए। ये विद्रोह तो दबा दिए गए लेकिन सेना भटक कर कच्छ की खाड़ी वाले इलाके में पहुँच गई जिससे उसे भारी नुकसान उठाना पड़ा।

इस प्रकार फिरोज़ किसी भी अर्थ में कोई बड़ा सैनिक नेता नहीं था। लेकिन उसका शासनकाल शांति और मूक विकास का युग था। उसने हुक्म जारी किया कि जब भी किसी अमीर की मृत्यु हो तो इक्ता सहित उसका स्थान उत्तराधिकार में उसके पुत्र को दिया जाए। यदि उसके कोई पुत्र न हो तो यह स्थान उसके दामाद को और दामाद भी न हो तो उसके गुलाम को दिया जाए। इक्ता से प्राप्त होने वाले राजस्व का हिसाब-किताब करते समय बकाया पाए जाने पर संबंधित अमीरों और उनके अमलों को यातना देने का रिवाज समाप्त कर दिया गया। इन कार्रवाइयों से अमीर लोग खुश हुए। यह इन्हीं कार्रवाइयों का सुपरिणाम था कि गुजरात तथा थट्टा जैसे कुछ प्रदेशों को छोड़कर अमीरों ने कहीं विद्रोह नहीं किया। लेकिन पदों और इक्ता को वंशानुगत बनाने की नीति का अंत में हानिप्रद साबित होना निश्चित था। इससे एक छोटे-से दायरे से बाहर जाकर सुयोग्य लोगों को सरकारी सेवा में नियुक्त करने की संभावना समाप्त हो गई और सुल्तान एक संकुचित अल्पतंत्र पर निर्भर हो गया।

वंशानुगतता के सिद्धांत को फिरोज़ ने सेना पर भी लागू कर दिया। बूढ़े सिपाहियों को शांति से जीने और लड़ाई के लिए अपने बदले अपने बेटे या दामाद और बेटा या दामाद न होने पर अपने गुलाम को भेजने की सुविधा दे दी गई। सिपाहियों को नकद वेतन नहीं देना था। इसकी बजाए अलग-अलग गाँवों के भूराजस्व उनके नाम कर दिए गए। इसका मतलब यह था कि सिपाही या तो लड़ाई के मैदान से अलग रहकर गाँवों में जाकर अपने वेतन की रकमों की वसूली करे या ऐसी वसूली का अधिकार बिचौलियों को दे दे जो उसके हाथ वसूली गई रकमों का आधा या तिहाई भाग ही रखते। इस तरह इस व्यवस्था से अंत में सिपाहियों को कोई लाभ नहीं हुआ। दूसरी ओर इससे पूरे सैनिक संगठन में शिथिलता आ गई। स्थिति यहाँ तक बिगड़ गई कि जब सिपाहियों द्वारा रखे जाने वाले घोड़ों का हिसाब लिया जाता था तो वे किरानियों को घूस देकर अपने नकारे घोड़ों को भी अच्छे

घोड़ों में शुमार करवा लेते थे। अपनी गलत नेकी और उदारता का उदाहरण पेश करते हुए एक बार खुद सुल्तान ने एक सिपाही को घोड़ों का हिसाब रखने वाले किरानी को घूस देने के लिए पैसा दिया।

फिरोज़ ने खुद को सच्चा मुसलमान शासक और अपने राज्य को विशुद्ध इस्लामी राज्य घोषित करके उलेमाओं को खुश करने की कोशिश की। वस्तुत: इल्तुतमिश की गद्दीनशीनी के समय से ही राज्य के स्वरूप और गैर-मुसलमानों के प्रति राज्य द्वारा अपनाई जाने वाली नीति को लेकर सुल्तानों तथा रूढ़िवादी उलेमाओं के बीच झगड़ा चल रहा था। जैसा कि हमने ऊपर बताया है, इल्तुतमिश के समय से और खास तौर से अलाउद्दीन तथा मुहम्मद तुगलक के काल में तुर्क शासकों ने उलेमाओं को राज्य की नीति निर्धारित करने की छूट नहीं दी थी। हिंदू शासकों के खिलाफ वे जिहाद तो करते थे लेकिन तभी जब ऐसा करने से उनका अपना मतलब सधता था। फिरोज उलेमाओं को संतुष्ट रखने के लिए उनमें से बहुतों को ऊँचे पदों पर नियुक्त किया। न्याय-व्यवस्था और शिक्षा तो उनके हाथों में ही रही।

इस्लामी व्यवस्था कायम करने का दिखावा करने के बावजूद फिरोज ने मुख्य-मुख्य मामलों में अपने पूर्ववर्ती सुल्तानों-की ही नीति जारी रखी। ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है कि उसने उलेमाओं को राज्य की नीति निर्धारित करने की छूट दी हो। उसने उन्हें कई सुविधाएँ अवश्य दीं। जिन रीति-रिवाजों को उलेमा इस्लाम के खिलाफ मानते थे उन पर फिरोज़ ने रोक लगाने की कोशिश की। उदाहरण के लिए उसने मुसलमान स्त्रियों के इबादत करने और मन्नतें मानने के लिए पीरों की मज़ारों पर जाने के रिवाज़ पर रोक लगा दी। उसने ऐसे कई मुस्लिम फिरकों को परेशान किया जिन्हें उलेमा इस्लाम विरुद्ध मानते थे। फिरोज़ के शासनकाल में ही जज़िया एक अलग टैक्स बन गया। पहले वह भूराजस्व का ही हिस्सा था। उसने ब्राह्मणों को जजिया अदा करने की जिम्मेदारी से बरी रखने से इंकार कर दिया क्योंकि शरीअत, यानी इस्लामी कानून में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी। इस कर से केवल स्त्रियों, बच्चों, अंधो-अपंगों और जीविका के साधन से विहीन लोगों को ही मुक्त रखा गया। इससे भी बुरी बात यह हुई कि मुसलमानों को धर्मोपदेश देने के कारण उसने एक ब्राह्मण को सरे-आम जला दिया। इस्लाम के सिद्धांतों का ख्याल करके उसने अपने राजमहल की दीवारों पर बने सुंदर चित्रों को मिटवा दिया।

फिरोज़ तुगलक के ये संकीर्ण विचार निस्संदेह हानिकर थे। लेकिन साथ ही वही पहला सुल्तान था जिसने हिंदू धर्मग्रंथों का संस्कृत से फारसी में अनुवाद कराने के लिए कदम उठाए ताकि हिंदू आचार-विचारों को ज्यादा अच्छी तरह समझा जा सके। संगीत, आयुर्वेद और गणित के भी कई ग्रंथ उसके शासन-काल में संस्कृत से फारसी में अनुदित किए गए।

फिरोज़ ने मानव-दया के भी कई कदम उठाए। उसने चोरी के अपराध के लिए हाथ-पैर, नाक-कान काटने की अमानवीय सज़ाओं को उठा दिया। गरीबों के मुफ्त इलाज के लिए उसने अस्पताल बनवाए और कोतवालों को बेरोज़गार लोगों की सूची तैयार करने का आदेश दिया एवं गरीबों की लड़कियों की शादी के लिए दहेज की रकमें दीं।

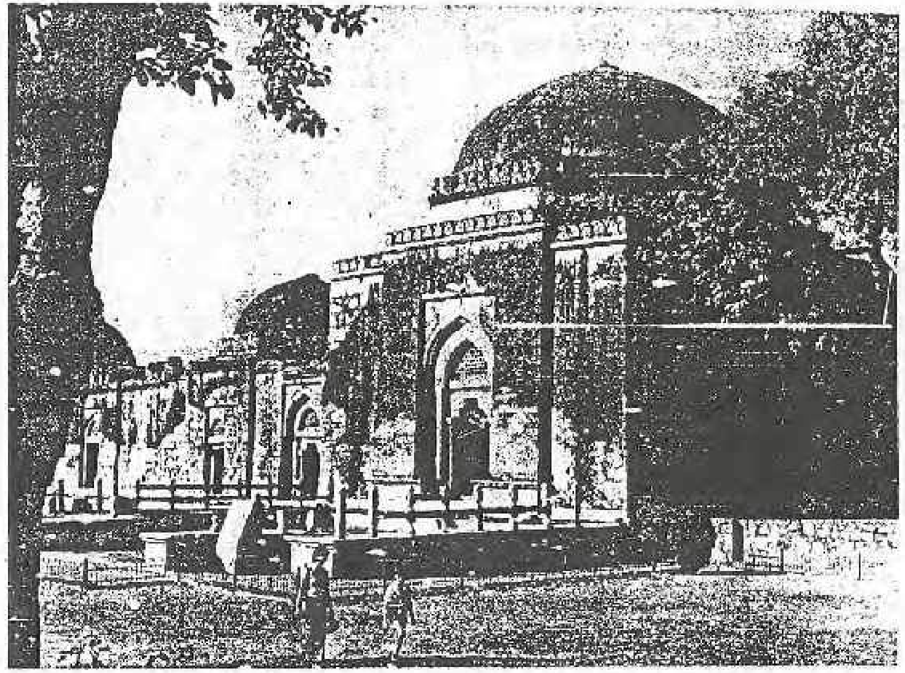

चित्र 7.3 दिल्ली स्थित हौजखास में फिरोज तुगलक का मकबरा

लेकिन यह संभव है कि इन उपायों का मूल उद्देश्य उन अच्छे परिवारों के मुसलमानों की मदद करना रहा हो जिनके अब बुरे दिन आ गए थे। यह बात भी मध्यकाल में राज्य के संकीर्णतापूर्ण स्वरूप का सबूत है। लेकिन फिरोज़ ने इस बात पर ज़ोर दिया कि राज्य सिर्फ सज़ा देने और कर वसूल करने के लिए ही नहीं है बल्कि वह जन-कल्याण की संस्था भी है। मध्यकाल के संदर्भ में राज्य के कल्याणकारी स्वरूप की यह अवधारणा काफी महत्वपूर्ण थी और फिरोज इसके लिए प्रशंसा का पात्र है।

देश की आर्थिक अवस्था सुधारने में फिरोज़ की गहरी रुचि थी। उसने लोकनिर्माण के लिए एक बड़ा विभाग स्थापित किया जो सरकारी निर्माण-कार्यों की देख-रेख करता था। उसने कई नहरों की मरम्मत करवाई और कई नई नहरें खुदवाईं। सबसे बड़ी नहर कोई 200 किलोमीटर लंबी थी जो सतलुज से निकल कर हाँसी तक पहुँचती थी। एक अन्य नहर यमुना से निकलती थी। इनका और अन्य नहरों का प्रयोजन सिंचाई की सुविधा और फिरोज द्वारा स्थापित नए शहरों को जरूरत का पानी सुलभ कराना था। इससे

हिसार-फिरोज़ या हिसार (आधुनिक हरियाणा में) और फिरोज़ाबाद (आधुनिक उत्तर प्रदेश में) नामक नगर आज भी फूल-फल रहे हैं।

फिरोज़ ने जो एक और कदम उठाया उसका आर्थिक के साथ-साथ राजनीतिक महत्व भी था। उसने अपने अधिकारियों को आदेश दिया कि वे जब भी किसी स्थान पर हमला करें तो सुंदर और कुलीन परिवारों में उत्पन्न लड़कों को चुनकर सुल्तान के पास गुलामों के रूप में भेज दें। इस तरह धीरे-धीरे 1,80,000 गुलाम इकट्ठे कर लिए। इनमें से कुछ को उसने विभिन्न दस्तकारियों का प्रशिक्षण दिलवाकर साम्राज्यभर के शाही कारखानों में नियुक्त कर दिया। बाकी में से उसने सिपाहियों का एक बड़ा दल तैयार किया। सुल्तान को आशा थी कि ये सैनिक उस पर निर्भर होंगे और इसलिए उसके प्रति वफ़ादार रहेंगे। यह कोई नई नीति नहीं थी। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, आरंभिक तुर्क सुल्तानों ने भी गुलाम भरती करने का रिवाज़ अपनाया। लेकिन अनुभव से यह साफ़ हो गया था कि ये गुलाम अपने मालिक वंशजों के प्रति भी वफादार रहे हों ऐसा भरोसा नहीं किया जा सकता था। शीघ्र ही वे अमीरों के वर्ग से अलग अपना अलग गुट कायम कर लेते थे। जब 1388 ई. में फिरोज़ की मृत्यु हुई तो फिर वही प्रशासनिक तथा राजनीतिक समस्याएँ उभर आईं जिनका सामना सल्तनत को हर सुल्तान की मृत्यु के बाद करना पड़ता था। सुल्तान और उसके अमीरों के बीच सत्ता के लिए फिर संघर्ष शुरू हो गया। स्थानीय ज़मींदारों ने स्थिति से लाभ उठाकर स्वतंत्र सत्ताधारियों की तरह व्यवहार करना शुरू कर दिया। परिस्थिति की जटिलता इसलिए और भी बढ़ गई कि अब फिरोज़ के गुलाम सत्ता के लिए चलनेवाली इस खींचतान में शरीक हो गए और अपने मनचाहे आदमी को गद्दी पर बैठाने की कोशिश करने लगे। फिरोज़ के बेटे सुल्तान मुहम्मद ने उन्हीं की सहायता से अपनी स्थिति को स्थिरता प्रदान करने में सफलता प्राप्त की। लेकिन गद्दी पर जम जाने के बाद उसने सबसे पहले जो कदम उठाए उनमें से एक यह था कि उसने इन गुलामों की शक्ति को छिन्न-भिन्न करने के लिए इनमें से बहुतों को मरवा दिया और बहुतों को कैद में डाल दिया एवं बाकी को तितर-बितर कर दिया। लेकिन न सुल्तान मुहम्मद और न उसका उत्तराधिकारी नासिरुद्दीन महमूद (1394 ई.-1412 ई.) महत्वाकांक्षी अमीरों और दुर्दमनीय राजाओं पर नियंत्रण स्थापित कर पाया। इसका मुख्य कारण शायद फिरोज़ के सुधार थे जिनके फलस्वरूप अमीर लोग बहुत शक्तिशाली हो गए थे और सेना कमज़ोर प्रांतों के सूबेदार आज़ाद हो गए और दिल्ली के सुल्तान की सत्ता वस्तुतः दिल्ली के आसपास के कुछ इलाकों तक सिमट कर रह गई। जैसा कि एक वाक्पटु व्यक्ति ने कहा - "शाहे-जहाँ (दुनिया के बादशाह) की हुकूमत दिल्ली से लेकर पालम तक चलती है।"[1]

दिल्ली पर तैमूर के हमले (1398 ई.) से सल्तनत की कमज़ोरी और भी बढ़ी। वैसे तैमूर तुर्क था लेकिन चंगेज़ ख़ाँ से खून के रिश्ते का दावा कर सकता था। उसने अपनी विजय का दौर 1370 ई. में आरंभ किया था और धीरे-धीरे सीरिया से लेकर ट्रांस-ऑक्सियाना और दक्षिणी रूस से लेकर सिंधु नदी तक के प्रदेशों पर अपनी

1 दिल्ली के वर्तमान हवाई अड्डे के निकट एक गाँव।

सत्ता स्थापित कर ली थी। उसने भारत पर लूटपाट के इरादे से हमला किया था और इस हमले का प्रयोजन पिछले 200 वर्षों के दौरान दिल्ली के सुल्तानों द्वारा एकत्र की गई विशाल संपत्ति को हथियाना था। दिल्ली सल्तनत लड़खड़ा चुकी थी, सो उसके आक्रमण का प्रतिरोध करने वाला कोई नहीं था। तैमूर की सेना ने दिल्ली के रास्ते में पड़ने वाले विभिन्न शहरों को बेरहमी से तबाह किया और लूटा। इसके बाद तैमूर ने दिल्ली में प्रवेश करके उसकी ईंट से ईंट बजा दी बड़ी तादाद में लोगों को, जिनमें हिंदू-मुसलमान, स्त्री-बच्चे सब शामिल थे, प्राणों से हाथ धोने पड़े।

तैमूर के आक्रमण से एक बार फिर स्पष्ट हो गया था कि भारत में कमज़ोर शासन होने से उसके लिए क्या खतरे उपस्थित हो सकते थे। इस आक्रमण के कारण भारत का बहुत-सा धन, सोना-चाँदी, हीरे-जवाहरात आदि, विदेश को चला गया। राज मिस्त्री, संगतराश, बढ़ई वगैरह बहुत-से कारीगरों को भी तैमूर अपने साथ ले गया। इनमें से कुछ लोगों ने उसकी राजधानी समरकंद में कई सुंदर इमारतें बनाने में हाथ बँटाया। लेकिन भारत पर तैमूर के आक्रमण का प्रत्यक्ष राजनीतिक प्रभाव बहुत सीमित ही रहा। तथापि तैमूर के हमले को दिल्ली के सुल्तानों के सशक्त शासन के दौर की समाप्ति का सूचक माना जा सकता है, यद्यपि खुद तुगलक राजवंश जैसे-तैसे 1412 ई. तक ही कायम रह सका।

दिल्ली सल्तनत के विघटन के लिए किसी एक सुल्तान को ज़िम्मेदार नहीं माना जा सकता। हम देख चुके हैं कि मध्यकाल में राज्य के लिए कुछ समस्याएँ तो हमेशा बनी ही रहती थीं-जैसे सुल्तान और अमीरों के बीच के संबंधों की समस्या, स्थानीय शासकों और ज़मींदारों के साथ संघर्ष की समस्या, क्षेत्रीय तथा भौगोलिक कारणों से उत्पन्न समस्या, आदि। अलग-अलग सुल्तानों ने अपने-अपने तरीके से इन समस्याओं का सामना करने की कोशिश की, लेकिन उनमें से कोई भी इस स्थिति में नहीं था कि समाज में ऐसे बुनियादी परिवर्तन ला सकता जो इन स्थायी कठिनाइयों का निवारण कर पाते। इस प्रकार राजनीतिक ताने-बाने के बिखराव की स्थिति सतह के नीचे दबी रहती थी और केंद्रीय प्रशासन में तनिक भी कमज़ोरी आते ही घटनाओं का ऐसा सिलसिला शुरू हो जाता था जो राजनीतिक ताने-बाने को छिन्न-भिन्न कर देता था। गियासुद्दीन तुगलक और मुहम्मद तुगलक के शासनकाल में सल्तनत के अतिविस्तार के फलस्वरूप प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं का जो सिलसिला आरंभ हो गया था उसे फिरोज़ तुगलक ने किसी तरह नियंत्रित कर लिया। उसने अमीरों और सिपाहियों को प्रसन्न करने के लिए कई कदम उठाए, लेकिन जैसा कि हम देख चुके हैं, इससे प्रशासन का केंद्रीय तंत्र कमज़ोर पड़ गया।

1200 ई. से 1400 ई. तक के काल में भारतीय जीवन में, अर्थात् उसके शासन-तंत्र, लोगों के जीवन और उनकी अवस्था तथा कला-स्थापत्य की स्थिति में अनेक नई विशेषताओं का समावेश हुआ। इन पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।

अभ्यास

1. निम्नलिखित शब्दों और अवधारणाओं का अर्थ स्पष्ट कीजिए :
   जौहर, आमिल, खूत और मुकद्दम।
2. जलालुद्दीन की गद्दीनशीनी का समाज के गैर-तुर्क वर्गों ने स्वागत क्यों किया?
3. अलाउद्दीन की गुजरात पर अधिकार करने की उत्सुकता के कारण बताइए।
4. राजस्थान और दकन पर अलाउद्दीन के आक्रमणों को ध्यान में रखते हुए उसके अधीन दिल्ली सल्तनत के प्रादेशिक विस्तार का वर्णन कीजिए।
5. सुल्तान के पद को सशक्त बनाने के लिए अलाउद्दीन खलजी ने कौन-से तरीके अपनाए? उसकी मृत्यु के बाद उसकी नीति विफल क्यों हो गई?
6. बरनी कहता है "अनाज मंडी में कीमतों की स्थिरता उस युग का एक आश्चर्य थी।" इस कथन को ध्यान में रख कर अलाउद्दीन के बाज़ार-संबंधी नियमों पर विचार कीजिए।
7. मुहम्मद तुगलक द्वारा आरंभ किया गया प्रतीक-मुद्रा का चलन विफल क्यों हो गया?
8. फिरोज़ तुगलक ने उलेमाओं के तुष्टीकरण की नीति क्यों अपनाई? स्पष्ट कीजिए।
9. फिरोज़ तुगलक ने आर्थिक विकास के लिए कौन-कौन-से कदम उठाए?
10. दिल्ली पर तैमूर के हमले के मुख्य परिणाम स्पष्ट कीजिए।
11. सल्तनत काल में अपने-अपने शासन के दौर में विभिन्न सुल्तानों को जिन स्थायी समस्याओं का सामना करना पड़ा उनका उल्लेख कीजिए।
12. सुल्तानों और मुसलमानों के बीच के संबंधों का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
13. भारत के मानचित्र की रूपरेखा में मुहम्मद-बिन-तुगलक के अधीन दिल्ली सल्तनत का प्रादेशिक विस्तार दर्शाइए।
14. इस काल के इतिहास के अध्ययन में सहायक समकालीन स्रोतों पर एक परियोजना तैयार कीजिए। इन स्रोतों पर टिप्पणियाँ तैयार कीजिए।